विचारों का स्वराज

कृष्ण चंद्र भट्टाचार्य

आज हम राजनीति में स्वराज या आत्म-निर्णय की चर्चा करेंगे। मनुष्य के ऊपर मनुष्य का प्रभुत्व सर्वाधिक स्पष्टता से राजनीतिक दायरे में ही महसूस किया जाता है, जबकि विचारों के दायरे में एक संस्कृति के ऊपर दूसरी संस्कृति अपना प्रभुत्व परोक्ष रूप से स्थापित करती है। साधारणतः महसूस न होने के कारण इस तरह के प्रभुत्व का नतीजा ज़्यादा गम्भीर होता है। राजनीतिक अधीनता का प्राथमिक अर्थ है राष्ट्रीय जीवन की बाहरी जकड़बंदी। निश्चित रूप से ये पाबंदियाँ हमारे आंतरिक जीवन के मर्म में पैठती जाती हैं, लेकिन दूसरी तरफ़ इनके प्रति जागरूकता इस प्रक्रिया के ख़िलाफ़ काम भी करती रहती है। जकड़बंदी के प्रति सचेत रहने से या तो उसका प्रतिरोध करने की सम्भावना बनी रहती है, या फिर उसे आवश्यक बुराई की तरह सहन करते हुए अपनी चेतना को स्वतंत्र रखा जा सकता है। दरअसल, दासत्व की शुरुआत होती ही तब है जब इस बुराई की अनुभूति खत्म हो जाती है। ग़ुलामी उस समय जड़ पकड़ लेती है जब उसे अच्छा मान कर स्वीकार कर लिया जाता है।

आमतौर से अनभिप्रेत होने के कारण सांस्कृतिक अधीनता की प्रकृति में दासत्व शुरू से ही निहित रहता है। सांस्कृतिक अधीनता से मेरा तात्पर्य किसी बाहरी संस्कृति का आत्मसातीकरण नहीं है। किसी संस्कृति को इस तरह अपना लेना अपने आप में कोई बुरी बात नहीं होती। स्वस्थ विकास के लिहाज़ से ऐसा करना सकारात्मक ज़रूरत भी हो सकती है। ऐसे आत्मसातीकरण को किसी भी तरह से आज़ादी का खात्मा नहीं माना जा सकता। सांस्कृतिक दासत्व की नौबत तो तब आती है जब विचारों और भावनाओं का पारम्परिक साँचा मानस पर प्रेत की तरह छायी विजातीय संस्कृति की नुमाइंदगी करने वाले साँचे द्वारा अपदस्थ कर दिया जाता है; और इससे पहले इन दोनों के बीच न कोई होड़ होती है और न किसी आपसी मिलान का आकलन किया जाता है। ऐसी स्थिति में पैदा होने वाली पराधीनता आत्मा को ग़ुलाम बना लेती है। जब कोई व्यक्ति ख़ुद को इससे मुक्त कर लेता है तो उसे लगता है कि जैसे उसकी आँखों से पर्दा हट गया हो। उसे पुनर्जन्म जैसी अनुभूति होती है। इसे ही मैं विचारों का स्वराज कहता हूँ।

हमारे देश में बहुत से शिक्षित लोग न तो हमारी इस देशज संस्कृति के बारे में कुछ ख़ास जानते हैं और न ही जानना चाहते हैं। और जब वे जानने की कोशिश करते भी हैं तो उन्हें उसके ज़रिये अपनी इयत्ता खोजने जैसा कोई एहसास नहीं होता, हालाँकि यह अनुभूति उन्हें होनी चाहिए।

आजकल हमारी राजनीतिक नियति निर्माणाधीन दौर में है। ऐसे में मन करता है एक संदेह करने का। एक ऐसा संदेह जिसका धुँधला सा एहसास दबाया जाता रहा है ताकि कहीं हमें संस्कृति–हीन न समझ लिया जाए। मन यह पूछने का करता है कि 'पश्चिमी' शिक्षा को हमने किस सीमा तक आत्मसात किया है, और किस हद तक हम इसके मोह में फँसे रहे हैं। हममें से कुछ लोगों द्वारा ही सही, पर निश्चित रूप से पश्चिमी शिक्षा का एक तरह का आत्मसातीकरण तो किया ही गया है। लेकिन इन लोगों के संदर्भ में भी यह सवाल उठाया जा सकता है कि क्या विदेशी संस्कृति अपनाने से पहले उन्होंने उसके और अपनी देशज संस्कृति के बीच एक सम्पूर्ण और चैतन्य संघर्ष होने दिया था। हमारे देश में पश्चिमी शिक्षा की शुरुआत के समय यह बात पूरी तरह नहीं समझी जाती थी, पर आज यह मान लिया गया है कि हमारे पास एक उच्चस्तरीय देशज संस्कृति थी जिसका तुलनात्मक मूल्यांकन अभी पूरी तरह से नहीं किया जा सका है। वर्तमान व्यवस्था में आमतौर पर पहले हमें पश्चिमी संस्कृति थमायी जाती है, और फिर हम कभी–कभार जिज्ञासावश अपनी प्राचीन संस्कृति में झाँकने की कोशिश करते हैं। विदेशी प्राच्यविदों जैसे इस रवैये के बावजूद हम कहते यही हैं कि हमारी इस प्राचीन संस्कृति में कौतूहल की कोई बात नहीं है। हमारे देश में बहुत से शिक्षित लोग न तो हमारी इस देशज संस्कृति के बारे में कुछ ख़ास जानते हैं और न ही जानना चाहते हैं। और, जब वे जानने की कोशिश करते भी हैं तो उन्हें उसके ज़रिये अपनी इयत्ता खोजने जैसा कोई एहसास नहीं होता, हालाँकि यह अनुभूति उन्हें होनी चाहिए।

निर्विवाद रूप से यह पश्चिमी संस्कृति हम पर थोपी गयी है। यहाँ पश्चिमी संस्कृति का अर्थ है विचारों और भावनाओं की एक पूरी व्यवस्था। मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि यह संस्कृति अनिच्छुक लोगों पर थोपी गयी है। दरअसल, हमने ख़ुद ही इस शिक्षा की माँग की है और हमें लगता है कि कुछ मायनों में यह हमारे लिए एक वरदान है। शायद हमारा ऐसा मानना सही भी है। लेकिन जब मैं यह कहता हूँ कि पश्चिमी संस्कृति हम पर थोपी गयी है तो मेरा मतलब केवल यह होता है कि हमने आमतौर पर इसे अपनी पहले से चली आ रही भारतीय बुद्धि के साथ सचेत रूप से ग्रहण

नहीं किया है। हमारे शिक्षित लोगों के लिए अधिकांशत: यह भारतीय बुद्धि पूरी तरह से व्यतीत हो कर सांस्कृतिक चेतना के धरातल से नीचे ठहर गयी है। रोज़ाना की घरेलू ज़िंदगी और कुछ ऐसे सामाजिक और धार्मिक व्यवहारों में तो इसकी सक्रियता अभी है जिनकी इन शिक्षित लोगों के लिए कोई केंद्रीय अहमियत नहीं बची है। यह भारतीय बुद्धि नयी शिक्षा से हासिल विचारों का न तो स्वागत करती है और न ही इनका प्रतिरोध करती है। वह सांस्कृतिक दायरे में किसी तरह की दावेदारी करने की हिम्मत नहीं जुटा पाती। यह स्थिति किसी थोपी गयी संस्कृति को जीवंत रूप से आत्मसात करने के अनुकूल नहीं है। दरअसल, नये विचार एक फ़ैशन के तहत ग्रहण किये जा रहे हैं। उन्हें समझने और प्राप्त करने की प्रक्रिया कल्पना के धरातल पर चलती है। वे भाषा और कुछ आरोपित संस्थाओं में जड़ीभूत हैं। इस भाषा या इन संस्थाओं में बौद्धिक क़वायद करने से एक तरह के चिंतन की आदत पड़ जाती है। एक ऐसे चिंतन की जो लगता तो वास्तविक है, पर होता है आत्माहीन।

पश्चिम के समृद्ध और समर्थ जीवन से उद्‌भूत ये विचार हमारे भीतर एक छाया-बुद्धि की रचना करते हैं। प्रामाणिक सृजनशीलता के क्षणों को छोड़ कर यह छाया-बुद्धि ही वास्तविक बुद्धि की तरह काम करती है। उम्मीद तो यह थी कि एक सदी से ज़्यादा समय तक पश्चिम के प्राणवान विचारों के सम्पर्क में रहने के बाद आधुनिक विश्व की संस्कृति और चिंतन में भारत की तरफ़ से प्रबल योगदान होगा, ख़ासतौर पर इतिहास, दर्शन या साहित्य जैसे मानविकी के विषयों में जिससे हमारे वे देशवासी लाभान्वित हो पाते जो अब भी देशज मानस में रमे हुए हैं। इस योगदान को एक विशिष्ट भारतीय चेतना की देन समझा जा सकता था। लेकिन कुछ असाधारण प्रतिभा से सम्पन्न लोगों के, जिनका होना उनके समय का मोहताज़ नहीं होता, योगदान के अलावा शिक्षित भारतीयों के योगदान का हमें ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। मैं यहाँ सृजनशीलता के कुछ ऐसे सरल रूपों का भी उल्लेख कर रहा हूँ जिनका ताल्लुक़ हमारे दैनंदिन जीवन से है। जैसे, इस जगत में अपनी वास्तविक स्थिति के बारे में समझ बनाना।

दुनिया भर में चलने वाले आंदोलनों की हम चर्चा करते रहते हैं और पश्चिमी जीवन और चिंतन के सिद्धांतों और उनसे जुड़ी बातों के बारे में भी हमें अच्छी-ख़ासी जानकारी है। लेकिन हमें अक्सर यह ठीक से पता नहीं होता है कि दरअसल आज हम कहाँ खड़े हैं। हम यह भी नहीं समझ पाते कि अपनी ज़िंदगी के हालात पर हम इन किताबी सिद्धांतों को किस तरह लागू करें। पश्चिमी संस्कृति ने हमारे बारे में जो फ़ैसले कर लिए हैं, हम या तो उन्हें स्वीकारते हैं, या उन्हें दोहराते हैं। कई बार उनके प्रति एक नपुंसक क़िस्म का असंतोष भी जताया जाता है। लेकिन हमारे पास अपनी ऐसी कोई समझ नहीं है जो हमारी अपनी हक़ीक़त के निचोड़ पर आधारित हो।

मसलन, राजनीति के क्षेत्र में हमने अब यह महसूस करना शुरू किया है कि हम लम्बे समय से ग़लत सिद्धांतों पर चल रहे थे। अब जा कर हमें यह अहसास हुआ है कि ये सिद्धांत केवल उन्हीं देशों के लिए फ़ायदेमंद हैं जो पहले से ही स्वतंत्र और स्थापित हैं। अभी तक हमारे पास उस दुर्बोध चीज़ की पर्याप्त जानकारी नहीं थी जिसे वे लोग सत्ता कहते हैं और जिसका वजूद दरअसल किसी भी तार्किकता और राजनीतिक विद्वत्ता से परे जाता है। सामाजिक सुधार के क्षेत्र में भी हमने अपनी पारम्परिक सामाजिक संरचना के अंतर्मुखी सार को समझने की कोशिश नहीं की। हमने यह परीक्षण करने का प्रयास भी नहीं किया है कि पश्चिम के समाजशास्त्रीय सिद्धांत किस सीमा तक सार्वभौम हैं। या तो एक बेलिहाज़ क़िस्म का रूढ़िवाद हम पर हावी रहा है, या फिर हम पश्चिम की नक़ल भर करने वाली ख़याली प्रगतिशीलता से संतुष्ट रहे हैं।

इसी तरह पूछा जा सकता है कि ज्ञान के क्षेत्र में हममें से कितने लोग पश्चिमी साहित्य और चिंतन का विशिष्ट भारतीय लेखा-जोखा तैयार कर पाये हैं ? एक विदेशी किसी दूसरे देश के साहित्य

की क़दर कर सकता है, पर अंततः उसकी बुद्धि तो स्थानीय निवासियों की बुद्धि से अलग तरह की प्रतिक्रिया ही करेगी। मसलन, एक फ्रांसीसी किसी अंग्रेज़ की तरह शेक्सपियर का मूल्यांकन नहीं कर सकता। हमें ज़्यादातर शिक्षा अंग्रेज़ी साहित्य के ज़रिये मिली है। लेकिन फ्रेंच और जर्मन बुद्धि अंग्रेज़ी साहित्य की चेतना से जितनी दूर है, परम्परा और इतिहास के लिहाज़ से भारतीय बुद्धि उससे कहीं ज़्यादा दूर है। इसके बावजूद मेरी जानकारी के मुताबिक़ किसी भारतीय ने अंग्रेज़ी साहित्य के बारे में अपने भारतीय मानस का परिचय दे सकने वाला कोई मूल्यांकन नहीं किया है। चूँकि उसके आकलन और किसी अंग्रेज़ी आलोचक के आकलन में कोई ख़ास अंतर नहीं होता, इसलिए संदेह होता है कि क्या यह किसी भी तरह से उसकी कोई अपनी समझ है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि यह सिर्फ़ पश्चिमी शिक्षा द्वारा हमारी बुद्धि पर चढ़ायी गयी कलई का यांत्रिक परिणाम ही हो।

दर्शन में भी आधुनिक शिक्षित भारतीयों द्वारा शायद ही ऐसा कुछ लिखा गया है जो यह दिखाये कि उसने भारतीय और पश्चिमी चिंतन के बीच संश्लेषण हासिल कर लिया है। अभी हमारे पास ऐसा कोई लेखन नहीं है जो भारतीय दर्शन के नज़रिये से पश्चिमी ज्ञान-प्रणालियों का मूल्यांकन करता हो। यह ज़रूर है कि पश्चिमी दृष्टिकोण से भारतीय दर्शन के मूल्यांकन की कुछ कोशिशें की गयी हैं, पर अभी तक यह बात नहीं समझी गयी है कि एक उपयोगी तुलनात्मक अध्ययन की नौबत आने से पहले भारतीय और पश्चिमी दर्शनों की बुनियादी अवधारणाओं की आलोचना आवश्यक है। लेकिन इस कमी के बावजूद दर्शन के क्षेत्र में ही हमें पूर्वी और पश्चिमी विचारों का प्रभावकारी आपसी सम्पर्क मिल सकता है। विश्व की संस्कृति में प्राचीन भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान दर्शन के क्षेत्र में ही रहा है। यदि आधुनिक भारतीय बुद्धि को किसी तरह का सोद्देश्य दार्शनिक चिंतन करना है तो उसे पूर्वी चिंतन और पश्चिमी चिंतन को एक-दूसरे के मुक़ाबले खड़ा करके या तो उनके बीच कोई सम्भावित संश्लेषण करना होगा, या फिर हो सके तो किसी एक को तार्किक रूप से ख़ारिज करने की कोशिश करनी होगी। हम आधुनिक भारतवासियों को अगर भारत की आत्मा कहीं मिलेगी तो वह दर्शन का क्षेत्र ही है। इसी मुक़ाम पर हम अपनी वर्तमान इयत्ता में अपनी पुरानी इयत्ता का नैरंतर्य पहचानने की उम्मीद कर सकते हैं। अगर कुछ है तो यही है वह कार्यभार जिसे आजकल भारत का लक्ष्य कहा जाता है। असाधारण प्रतिभा के ज़रिये कला के क्षेत्र में भारत की आत्मा का अनावरण किया जा सकता है, लेकिन एक प्रणालीगत तरीक़े से उसकी खोज केवल दर्शन के क्षेत्र में ही सम्भव है।

हमारी शिक्षा ने अभी तक हमें ख़ुद को समझने में मदद नहीं की है। यह न तो हमें हमारे अतीत का महत्त्व बताती है और न ही वर्तमान की हक़ीक़तों और भविष्य के लक्ष्य को समझने में सहायता करती है। यह शिक्षा तो हमारी वास्तविक बुद्धि को सुप्त करके उसकी जगह एक छाया-बुद्धि बैठा देती है, एक ऐसी छाया-बुद्धि जिसकी हमारे अतीत और वर्तमान में कोई बुनियाद नहीं है। हमारी पुरानी बुद्धि को पूरी तरह से पृष्ठभूमि में नहीं धकेला जा सकता, न ही इसके बदले थोपा गया विकल्प प्रभावकारी और फलदायक तरीक़े से काम करता रह सकता है। इसलिए नतीजा यह हुआ है कि बुद्धि के इन दो संस्करणों के बीच भ्रम की स्थिति पैदा हो गयी है और विचारों का जगत एक निराशाजनक कोलाहल का शिकार हो गया है। हमारा चिंतन पूरी तरह से संकर है और इसके कारण यह अनिवार्य रूप से बेमज़ा और बंजर बन गया है। दासता हमारी आत्मा में प्रवेश कर चुकी है।

हमारे विचारों के संकरीकरण का प्रमाण यह है कि हमारे शिक्षित लोग देशी भाषा और अंग्रेज़ी की हैरतअंगेज़ खिचड़ी में एक-दूसरे से बात करते हैं। ख़ासतौर पर सांस्कृतिक विचारों की अभिव्यक्ति करने के लिए हमें पूरी तरह से देशज भाषा का उपयोग करना बहुत ही मुश्किल लगता है। मसलन, अगर मुझसे आज का पूरा विमर्श बांग्ला में करने के लिए कहा जाता तो मुझे इसके लिए अच्छी-ख़ासी मशक़्क़त करनी पड़ती। इस तरह की प्रशंसनीय कोशिशें होती रहती हैं और इनकी सराहना भी होनी चाहिए। यह अलग है कि इन्हें हमेशा कामयाबी नहीं मिलती।

शायद यह संक्रमण के दौर की स्थिति है। मेरी मान्यता है कि अगर हम भाषा की यह बाधा पार कर लें तो विचारों का स्वराज हासिल करने की दिशा में एक बड़ा क़दम बढ़ाया जा सकता है।

हमारी शिक्षा और दैनंदिन जीवन पर पश्चिमी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं के प्रभाव के कारण विचारों का संकरीकरण सामने आया है। यह हमारे मौजूदा हालात का सबसे निराशाजनक पहलू है। यह अस्वाभाविक है। इसे उसी नज़रिये से देखा जा सकता है जिस तरह से पुराने हिंदू विचारों के तहत वर्ण-संकरता को देखा जाता था। यह सिर्फ़ बौद्धिक क्षेत्र में भ्रम ही पैदा नहीं करता है, बल्कि इसका प्रभाव इससे कहीं ज़्यादा है। दरअसल सभी जीवंत विचार आदर्शों के बिना सम्भव नहीं होते। इनमें एक पूरा सिद्धांत और जीवन के बारे में एक अंतर्दृष्टि शामिल होती है। चिंतन या बुद्धि की प्रकृति सार्वभौम हो सकती है। लेकिन उनके आधार पर गढ़े जाने वाले विचार अलग-अलग संस्कृतियों में अलग-अलग तरीक़ों से सामने आते हैं। उन पर इन संस्कृतियों की विशिष्ट मेधा का प्रभाव होता है। एक सांस्कृतिक भाषा के किसी भी विचार का दूसरी सांस्कृतिक भाषा के विचार में अनुवाद नहीं किया जा सकता है। प्रत्येक संस्कृति के पास अपनी एक अलग शरीर-रचना होती है जिसका प्रतिबिम्बन उस संस्कृति द्वारा पेश किये जाने वाले हर जीवंत विचार और आदर्श में होता है।

विभिन्न संस्कृतियों के विचारों का कामचलाऊ घालमेल तैयार करना विद्वत्ता के मर्म को ठीक उसी तरह चोट पहुँचाता है, जैसे आदर्शों के कामचलाऊ घालमेल से आध्यात्मिकता को ठेस लगती है। दरअसल विभिन्न संस्कृतियों और सांस्कृतिक आदर्शों की सीमाओं के भीतर समायोजन और संश्लेषण की गुंजाइश तो होती ही है। जीवन का अर्थ होता है कि ख़ुद को अलग-अलग समयों और विविध आदर्शों के अनुसार ढालना। लेकिन हम हमेशा इस बारे में बहुत स्पष्ट नहीं होते कि ख़ुद को ढालने या अनुकूलित करने के लिए किस तरह की प्रणाली अपनायी जानी चाहिए। हमें जीना है और हक़ीक़तों को स्वीकार करते हुए अपने समय के साथ अपने लौकिक जीवन और लौकिक विचारों को ढालना है। इसलिए हमें ख़ुद में इस तरह की तब्दीलियाँ करनी होती हैं जो इस स्थिति के लिए उपयुक्त हों। बहरहाल, आध्यात्मिक जीवन में इस तरह की कोई माँग नहीं होती है कि अलग-अलग समय में सुकून से रहने के लिए हम अपने आदर्शों से समझौता करें।

सभी जीवंत विचार आदर्शों के बिना संभव नहीं होते। इनमें एक पूरा सिद्धांत और जीवन के बारे में एक अंतर्दृष्टि शामिल होती है। चिंतन या बुद्धि की प्रकृति सार्वभौम हो सकती है। लेकिन उनके आधार पर गढ़े जाने वाले विचार अलग-अलग संस्कृतियों में अलग-अलग तरीक़ों से सामने आते हैं। उन पर इन संस्कृतियों की विशिष्ट मेधा का प्रभाव होता है।

बेहतर तो यही है कि अगर मुमकिन हो और जहाँ तक हमारी क्षमता इजाज़त दे, हम समय के अनुसार नहीं बल्कि समय को अपने जीवन के अनुसार ढालें और अनुकूलित करें। लेकिन दुनिया हमें सिर्फ़ आक्रामक हितों के साथ ही नहीं बल्कि आक्रामक आदर्शों के साथ भी चुनौती देती है। हमारे पारम्परिक आदर्शों को इन थोपे गये आदर्शों पर किस तरह प्रतिक्रिया करनी चाहिए? हम चाहें तो नये आदर्शों को स्वीकार किये बिना ही उनका आदर करते रहें, या हम बिना कोई समझौता किये उनके साथ संश्लेषण करने की कोशिश करें, या फिर हम चाहें तो उन्हें अपने आदर्शों की पूर्ति के रूप में स्वीकार कर लें। अलग-अलग आदर्शों के संदर्भ में अलग-अलग अनुक्रियाएँ आवश्यक हो सकती हैं। लेकिन अगर आत्म-संतोष के लिए बिना किसी समायोजन के या यांत्रिक समायोजन के साथ

एक कामचलाऊ घालमेल तैयार किया जाएगा तो उससे बुराई ही पैदा होगी। इसका कारण यह है कि हमारी आत्मा किसी भी एक आदर्श के सामने पूर्ण समर्पण नहीं करती। जब विभिन्न आदर्शों को इस प्रार्थनापूर्ण उम्मीद से स्वीकार किया जाता है कि एक संश्लेषण सामने आयेगा तो कामचलाऊ घालमेल को एक समाधान के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता इसलिए उसे बुराई नहीं माना जा सकता।

अपने पारम्परिक विचारों और आदर्शों से पश्चिम के विचारों और आदर्शों के टकराव की बात हम शायद कुछ ज़्यादा ही लापरवाही से करते रहते हैं। लेकिन कई बार यहाँ टकराव के बजाय उसका भ्रम होता है। असली मुद्दा तो यह है कि यह भ्रम कैसे दूर किया जाए और कैसे इसे एक सुनिश्चित टकराव के रूप में विकसित किया जाए। ख़तरा यह है कि हम इस भ्रम को ही ख़ुशी से स्वीकर करके संतुष्ट न हो जाएँ। आदर्शों के टकराव को हासिल करने का अर्थ आत्मा को गहराई देना भी है। एक समुचित टकराव तभी होता है जब कोई सचमुच आदर्शों के प्रति गम्भीर होता है और महसूस करता है कि हर आदर्श जीवन और मौत का मसला है। कई दफ़ा हम किसी पश्चिमी या पूर्वी आदर्श के लिए वास्तविक रूप से गम्भीर होने से पहले ही जज़्बाती तौर पर एक टकराव के बारे में सोचने लगते हैं।

अक्सर हम पूर्व और पश्चिम के आदर्शों के बीच संश्लेषण की माँग के बारे में भी थोड़ी ज़्यादा जल्दबाज़ी में बात करते हैं। दरअसल हर मामले में संश्लेषण करने की कोशिश भी नहीं की जानी चाहिए। एक समुदाय का आदर्श उसके अतीत और उसकी मिट्टी से निकलता है। ज़रूरी नहीं है कि उन आदर्शों को सार्वभौमिक रूप से लागू किया जा सके। इसी तरह ये आदर्श हमेशा ही दूसरे समुदायों को अपने-आप आकर्षित नहीं करते। पश्चिम के ऐसे बहुत से आदर्श हैं जिनकी हमारे लिए कोई विशेष अपील नहीं है। हम इन आदर्शों से एक दूरी रखते हुए उनका आदर कर सकते हैं।

फिर, ऐसे बहुत से आदर्श हैं जो हमें आंशिक रूप से अपील करते हैं। अपने विदेशी रंग-ढंग के बावजूद इन आदर्शों की हमारे अपने आदर्शों से कुछ समानता होती है। इनसे हमें जो शिक्षा मिलती है, उसे हमें अपने धर्म की परम्पराओं के अनुसार अपनी कार्यकारी विधियों से अपनाना चाहिए। इस तरह के आदर्श को व्यावहारिक ज़िंदगी की ज़रूरत के मुताबिक़ ढाला जाना चाहिए। हमें अपने समुदाय की मेधा या प्रतिभा के अनुसार यह फ़ैसला करना चाहिए कि हम इन आदर्शों को किस रूप में अपनायेंगे। हर मामले में पश्चिमी आदर्शों के साथ हमारे आदर्शों के संश्लेषण की आवश्यकता नहीं है। जहाँ इसकी ज़रूरत है, वहाँ हमारे आदर्श को विदेशी आदर्श में समाहित करने के बजाय विदेशी आदर्श को हमारे आदर्श में समाहित किया जाना चाहिए। किसी भी मामले में हमें अपनी वैयक्तिकता का समर्पण नहीं करना चाहिए : *स्वधर्मे निधानं श्रेय: पराधर्मो भयावह:*। बहुत से ऐसे भी लोग हैं जो ऐतिहासिक समुदाय की विशिष्टता पर बल दिये जाने के विचार को ज़रूरत से ज़्यादा आलोचनात्मक नज़रिये से देखते हैं। उन्हें लगता है कि यह राष्ट्रीय, सामुदायिक या प्रजातीय अहंकार है जिसके बहाने से विकृत दक़ियानूसीपन ही पनपेगा। ऐसे लोग समस्त मानवता को कुछ स्वयं-प्रकाशित आदर्शों, किसी एक सार्वभौम धर्म और एकल सार्वभौम परिक्षेत्र के तहत देखना चाहते हैं।

दूसरी तरफ सार्वभौमवाद के पक्ष में भी कुछ मज़बूत तर्क हैं। एक समुदाय और मानवता की प्रगति का अर्थ यह है कि आदर्शों का धीरे-धीरे सरलीकरण और एकीकरण हो। बुद्धिवाद का आंदोलन सबके लिए एक सी बुद्धि के लिए प्रयास कर रहा है। यहाँ हमें बुद्धिवाद के दो रूपों और सरलीकरण की प्रक्रिया की दो दिशाओं के बीच अंतर करना होगा। एक में चेतना की प्रसव-पीड़ा के बाद तर्कबुद्धि जन्म लेती है। यहाँ बुद्धिवाद श्रद्धा की धारा के रूप में होता है। पारम्परिक संस्थाओं के प्रति श्रद्धा प्रथागत संवेदनाओं को पारदर्शी आदर्शों के रूप में गहराई देती है। बुद्धिवाद का दूसरा रूप वही है जो सामान्य तौर पर इसके नाम से समझा जाता है। इसमें आदर्शों का सरलीकरण और सामान्यीकरण पुनरुज्जीवन की क्षमता से वंचित समझ से प्रभावित होता है और इसमें अनावश्यक

का आवश्यक से यांत्रिक अलगाव कर दिया जाता है। यहाँ आवश्यक के बारे में श्रद्धा या गहरी आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि के आधार पर फ़ैसला नहीं किया जाता। इसके बजाय, यहाँ फ़ैसला करने वाले व्यक्ति की आकस्मिक पसंद या नापसंद के आधार पर फ़ैसला किया जाता है। बहुत पुरानी भावनाओं के साथ जुड़ी हुई प्रथाओं और संस्थाओं को तर्कबुद्धि के नाम पर बेकार और मृत बताते हुए दरकिनार कर दिया जाता है। ऐसा करने से पहले विनम्र नज़रिया अपना कर इन्हें फिर से हासिल करने या सक्रिय करने की कोशिश नहीं की जाती।

दरअसल परिस्थितियों के हिसाब से इस बारे में फ़ैसला किया जाना चाहिए कि क्या आवश्यक है और क्या अनावश्यक। सिर्फ़ ऐतिहासिक भावुकता के आधार पर फ़ैसला करने से कोई मक़सद हल नहीं होगा। यह हो सकता है कि व्यवहारिक ज़िंदगी में आदर्शों के स्पष्ट होने से पहले ही किसी को आगे बढ़ना पड़े। लेकिन फिर भी विचारों की दुनिया में विनम्रता और धैर्य की आवश्यकता को मान्यता देना अच्छी बात है। हमारे विचारों की दुनिया में अगाध धैर्य और विनम्रता से ही एक व्यवस्था का विकास होता है। यही है सही बुद्धिवाद। सिर्फ़ ग़लत और गरिमाहीन बुद्धिवाद के तहत ही तर्कबुद्धि के नाम पर व्यावहारिक तरीक़े से फूहड़ फ़ैसले लिए जाते हैं।

फिर बुद्धिवाद का एक वैध और दायित्वपरक रूप भी है। मान लीजिए कि एक आदर्श के बारे में हम यह महसूस करते हैं कि वह हमारे अपने आदर्शों को ज़्यादा सरल और गहरे रूप में अभिव्यक्त करता है। लेकिन इसके बावजूद अगर हम उसे इसलिए स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि यह किसी दूसरे देश से संबंधित है तो ऐसा करना ग़लत होगा। इसे ख़ारिज करने का मतलब होगा महज़ वैयक्तिकता के लिए ही वैयक्तिकता पर ज़ोर देना और राष्ट्रीय अहंकार और दक़ियानूसीपन का शिकार होना। दरअसल, इस तरह का आदर्श स्वीकार करके हम किसी भी तरह से अपनी वैयक्तिकता का समर्पण नहीं करते : इस विदेशी भगवान की सेवा करके हम अपने भगवान की ही सेवा करते हैं। जब हम एक सच्चे गुरु को पाते हैं, तो हमें उसे गुरु या शिक्षक के रूप में स्वीकार करना चाहिए। हमें इस बात से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ना चाहिए कि वह किस समुदाय से संबंधित है। लेकिन यह भी सच है कि हम हर विदेशी आदर्श में अपने आदर्श की झलक नहीं पा सकते। कुछ विदेशी आदर्शों का हमारे अपने आदर्शों से जुड़ाव होता है। दरअसल वे ऐसे विदेशी मुहावरे में हमारे आदर्शों की वैकल्पिक अभिव्यक्ति हैं जिससे हमें पवित्रता की अनुभूति नहीं होती। दूसरी तरफ ऐसे भी विदेशी आदर्श होते हैं जिनका हमारी स्थितियों के लिए कोई उपयोग नहीं है।

सार्वभौमवाद के पैरोकार कई बार इस बात को भूल जाते हैं कि तर्कबुद्धि या धर्म का तथाकथित सार्वभौमवाद अभी बनने की प्रक्रिया से गुज़र रहा है। इसलिए यह वास्तविक रूप से स्थापित सार्वभौम सिद्धांतों की संहिता के रूप में हमें आकर्षित नहीं कर सकता। अगर कुछ सार्वभौम है तो वह है सिर्फ़ हमारी चेतना, हमारे अपने आदर्शों के प्रति निष्ठा और दूसरे आदर्शों के प्रति खुलापन। साथ ही यह भी कि यदि हम किन्हीं विदेशी आदर्शों को अपने आदर्शों के भीतर पाते हैं, तो उन्हें ख़ारिज नहीं करेंगे और जब तक हम उन्हें अपने आदर्शों के भीतर नहीं पायेंगे, तब तक उन्हें स्वीकार नहीं करेंगे। एक नये आदर्श का मूल्यांकन करने का एकमात्र तरीक़ा यह है कि हम उसे अपने वास्तविक आदर्श के माध्यम से देखें। एक नयी श्रद्धा हासिल करने का एकमात्र तरीक़ा यह है कि हम अपनी पुरानी श्रद्धा को और ज़्यादा गहराई दें।

आध्यात्मिक जगत में पुराने भगवान और नये भगवान के बीच एक तटस्थ तर्कणा से फ़ैसला करने पर प्रगति नहीं होती है। जिस तरीक़े से हम तथ्यों को जानते हैं उसी तरीक़े से हम मूल्यों को नहीं जान सकते। ऊपर मैंने भारतीय चिंतन और चेतना की विशिष्टता पर बहुत ज़्यादा ज़ोर दिया है। इसमें भारतीय समाज के युगों से निरंतर चले आ रहे ऐतिहासिक जीवन के दौरान विकसित विशिष्ट

मूल्य शामिल हैं। सार्वभौमवाद के नाम पर अक्सर इन विशिष्ट मूल्यों में निहित रूढ़िवाद पर आपत्ति दर्ज की जाती रही है। मुझे ऐसा लगा कि पाठक के ऊब जाने का जोखिम उठाते हुए भी अमूर्त तर्कों के सहारे सार्वभौमवाद की थोड़े विस्तार से विवेचना की जानी चाहिए। मुझे ऐसा लगता है कि सार्वभौमवाद हमारे लिए सबसे बड़ा ख़तरा है। यह हमारी बुनियादहीन शिक्षा का अनिवार्य नतीजा है। मैं यह भी मानता हूँ कि किसी भी दूसरी चीज़ की तुलना में यह विचारों के स्वराज के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा है।

राष्ट्रीय आत्माभिमान और अपनी संस्कृति से जुड़ी हर चीज़ का बिना सोचे-विचारे महिमा-मंडन करने और दूसरी संस्कृतियों से जुड़ी हर चीज़ को नकारने की प्रवृत्ति में भी ख़तरा है। लेकिन मेरे ख़याल से हमारी अपनी परिस्थितियों में इस पर ज़ोर देने की इतनी ज़रूरत नहीं है। इसका मतलब यह नहीं है कि इसपर कम गम्भीरता से अमूर्त विमर्श किया जाना चाहिए। लेकिन तथ्य यह है कि हमारे शिक्षित लोग अति-आत्मविश्वास के बजाय अति-आत्मसंदेह से पीड़ित हैं। ये परिवेशवादी रवैये से चिपके रहने से कहीं ज़्यादा बुनियादहीन सार्वभौमवाद से पीड़ित हैं। हम दूसरों द्वारा हमारे बारे में किये गये मूल्यांकन से असंतुष्ट होने के बजाय उसे स्वीकार करने के लिए ज़्यादा तैयार रहते हैं। हमारे भीतर एक बहुत पुरानी आदत है कि हमें जो भी सिखाया जाता है उसे बहुत पवित्र मानते हैं। यह आदत अब भी आसानी से नहीं बदल रही है बावजूद इसके कि शिक्षा के नाम पर हमें सिर्फ़ दूसरों के विचार थमाये जा रहे हैं। मसलन, हमारे बारे में वे लोग राय देते हैं जिन्हें हमारे बारे में या तो कुछ भी पता नहीं है या हमारे प्रति जिनमें कोई सहानुभूति नहीं है। हमारे बारे में दूसरों द्वारा बुरा या भला, बहुत कुछ लिखा गया है। दूसरे हमें हमारे बारे में बताने में लगे हुए हैं। इससे यह जायज़ सवाल उठता ही है कि क्या इन लोगों को हमारे जीवन की अंतर्मुखी प्रकृति का पर्याप्त प्रत्यक्ष-ज्ञान है। पहली नज़र में ऐसा लगता है कि किसी भी विदेशी के लिए उन लोगों के मानस को समझना बहुत मुश्किल है जिनकी परम्परा और इतिहास से उसका कोई नाता नहीं रहा है। विदेशी के लिए ज़रूरी है कि वह लम्बे समय तक उन लोगों की ज़िंदगी में नज़दीकी भागीदारी करे। स्वाभाविक ही है कि अपने बारे में किसी विदेशी अध्येता का मूल्यांकन स्वीकार करते समय एक तरह की हिचक दिखायी जाए। यदि कोई विदेशी साफ़ तौर पर अज्ञानी और फ़ालतू का निंदक नहीं है, तो उसकी दलीलें लोगों को आत्म-परीक्षण के लिए प्रेरित कर सकती हैं। लेकिन निश्चित तौर पर उन्हें किसी आज्ञा-परायण की भाँति स्वीकार किए जाने की उम्मीद नहीं की जानी चाहिए।

हमारे शिक्षित लोग अति-आत्मविश्वास की बजाय अति-आत्मसंदेह से पीड़ित हैं। ये परिवेशवादी रवैये से चिपके रहने से कहीं ज़्यादा बुनियादहीन सार्वभौमवाद से पीड़ित हैं। हम दूसरों द्वारा हमारे बारे में किये गये मूल्यांकन से असंतुष्ट होने के बजाय उसे स्वीकार करने के लिए ज़्यादा तैयार रहते हैं।

हमारी शिक्षा में इतिहास, दर्शन या नैतिक उपदेश के नाम काफ़ी-कुछ ऐसी बातें मौजूद हैं जो सचेत या अचेत रूप में अर्थ का अनर्थ करने वाली या प्रचारवादी क़िस्म की हैं। इसमें एक विदेशी मानक से हमारे अतीत और वर्तमान स्थिति का मूल्यांकन शामिल है। इन्हें विनम्र भाव से स्वीकार करने के बजाय इनके प्रति हमारा रवैया आलोचनात्मक संकोच से भरा होना चाहिए। और यह भी तय है कि ऐसे बहुत सारे मामलों में हमारे विदेशी शिक्षक और हमारे अपने शिक्षित लोग भी हमारे आलोचनात्मक रवैये की निंदा करेंगे। वे इसे इस रूप में पेश करेंगे मानो हम ज्यामिति की सच्चाई स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं और हमारा बरताव पूरी तरह से असभ्य और अज्ञानियों जैसा है।

जहाँ विदेशी शासकों द्वारा लोगों की शिक्षा का ज़िम्मा ले लिया जाता है, वहाँ इस तरह की बातें लाज़मी तौर पर सामने आती ही हैं। ऐसी स्थिति में शिक्षा हासिल करने वाले लोगों पर विदेशियों द्वारा किये गये मूल्यांकन थोपे जाते हैं और आलोचनात्मक नज़रिये को हतोत्साहित किया जाता है।

ज्ञान की कुछ ख़ास शाखाएँ विदेशी दृष्टिकोण थोपे जाने की समस्या से मुक्त हैं। जैसे गणित और प्राकृतिक विज्ञान। इन ज्ञान-शाखाओं की कोई राष्ट्रीयता नहीं होती और इनका अलग से कोई मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है। जब भी ख़ासतौर पर ज्ञान की किसी शाखा का मूल्यांकन किया जाता है, तो संदेह पैदा होता है कि इनके बारे में फ़ैसला करने वाले व्यक्ति का अपना राष्ट्रीय, सामुदायिक या नस्लीय नज़रिया इस तरह के मूल्यांकन पर हावी हो जाएगा। इसलिए किसी विदेशी द्वारा अपने सांस्कृतिक दृष्टिकोण से हमारी संस्कृति के मूल्यांकन को हमें तुरंत स्वीकार करने के बजाय उसका आलोचनात्मक परीक्षण करना चाहिए। कोई अगर हमें चुटकी काटे तो हमें उस पर प्रतिक्रिया करनी ही चाहिए।

मुझे इस संदर्भ में सर जॉन वुडरॉफ़ की एक टिप्पणी याद आती है। उनके अनुसार ऐसी स्थितियों में स्वाभाविक तौर पर हमारी पहली प्रतिक्रिया आत्मरक्षात्मक असंतोष की होगी जिसे एक तरह के असभ्यतापूर्ण अहंकार के तौर पर नहीं लिया जाना चाहिए। बग़ैर किसी आलोचना के ऐसे मूल्यांकनों का स्वीकार दासता है। आदर्शों के मूल्यांकन के क्षेत्र में आलोचनात्मक रवैये की सबसे ज़्यादा माँग की जानी चाहिए। इस तरह के मूल्यांकनों को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेने से केवल भ्रम ही पैदा नहीं होता, बल्कि इससे एक बुराई भी निकलती है। विज्ञान की अवधारणाओं को छोड़ कर सभी अवधारणाओं और विचारों का विशिष्ट चरित्र उस संस्कृति से प्रभावित होता है जिससे वे जुड़ी होती हैं। यहाँ तक कि विज्ञान की अवधारणाओं पर भी इस मामले में कुछ संदेह किया जा सकता है। इस तरह के सांस्कृतिक विचारों के प्रति हमारी क्या प्रतिक्रिया होनी चाहिए? उन्हें स्वीकार तो करना होगा, लेकिन ऐसे रूपकों और प्रतीकों के रूप में जिनका हमारी अपनी देशज अवधारणाओं में अनुवाद किया जाना है। एक विदेशी भाषा में समाहित विचारों को केवल तभी सही तरीक़े से समझा जा सकता है जब हम उन्हें अपने तरीक़े से अभिव्यक्त करें। मैं इस बात पर पूरी शिद्दत से ज़ोर देना चाहता हूँ कि विदेशी विचारों को स्वीकार करने या उन्हें नकारने से पहले उनका हमारे अपने देशज विचारों में प्रामाणिक अनुवाद होना चाहिए। हमें इस बात का पक्का निश्चय करना चाहिए कि हम हर जगह हमारी अपनी अवधारणाओं की रोशनी में चिंतन करेंगे। सिर्फ़ ऐसा करने पर ही हम अपने बारे में ज़्यादा फलदायक चिंतन कर सकते हैं। राजनीति के दायरे में हमारे पढ़े-लिखे लोगों को हक़ीक़त के दबाव ने यह मानने के लिए मजबूर कर दिया है कि जब तक वे आम जनता को अपने साथ लेकर नहीं चलेंगे तब तक उनके पास बेहतर परिणाम निकालने की क्षमता नहीं आयेगी। अगर ऐसा नहीं किया तो उनके कामों के हानिकारक नतीजे ही निकल सकते हैं। लेकिन दूसरे क्षेत्रों में इस तरह की समझ अभी विकसित नहीं हुई है। मसलन सामाजिक दायरे में ये लोग अब भी मानते हैं कि आम जनता पर कुछ निश्चित सुधार थोपे जा सकते हैं। उन्हें लगता है कि सिर्फ़ उपदेश देकर, सामाजिक सम्मेलनों में प्रस्ताव पारित करके और क़ानून बनाकर उन्हें ऐसा करने में सफलता मिल जाएगी। विचारों के दायरे

> **हम भूल जाते हैं कि पश्चिमी शिक्षा हासिल किए हुए हम लोग ख़ुद एक विशिष्ट जाति का निर्माण करते हैं। पश्चिमी शिक्षा हासिल करने वाले लोगों की यह जाति परम्परागत जातियों की तुलना में कहीं ज़्यादा असहिष्णु है। हमें यह दृढ़-निश्चय करना चाहिए कि हम इस नयी जाति के बंधनों को तोड़ेंगे...**

में तो इन लोगों को इस बात का बहुत कम अहसास है कि हम केवल आम लोगों के जीवन और बुद्धि को स्पंदित करने वाले देशज विचारों की रोशनी में सोच कर ही प्रभावकारी चिंतन कर सकते हैं। हम अपने देश की जाति-व्यवस्था की निंदा करते हैं। लेकिन हम भूल जाते हैं कि पश्चिमी शिक्षा हासिल किये हुए हम लोग ख़ुद एक विशिष्ट जाति का निर्माण करते हैं। पश्चिमी शिक्षा हासिल करने वाले लोगों की यह जाति परम्परागत जातियों की तुलना में कहीं ज़्यादा असहिष्णु है। हमें यह दृढ़-निश्चय करना चाहिए कि हम इस नयी जाति के बंधनों को तोड़ेंगे, वास्तविक भारतवासियों के सांस्कृतिक स्तर पर वापस जाएँगे, और उनके साथ मिल कर एक ऐसी संस्कृति का विकास करेंगे जो हमारे समय और हमारी देशज प्रतिभा के लिए उपयुक्त हो। ऐसा करना ही विचारों में स्वराज हासिल करना होगा।